जैन धर्म का लेश्या-सिद्धान्त : एक मनोवैज्ञानिक विमर्श

व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी मनोवृत्तियों अथवा आवेगों पर निर्भर करता है। व्यक्ति जितना आवेगों से ऊपर उठेगा, उसके व्यक्तित्व में उतनी स्थिरता एवं परिपक्वता आती जायेगी। जिस व्यक्ति में आवेगों (कषायों) की जितनी अधिकता एवं तीव्रता होगी, उसका व्यक्तित्व उतना ही निम्नस्तरीय एवं अशान्त होगा। आवेगों (मनोवृत्तियों) की तीव्रता और उनकी शुभाशुभता दोनों ही हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। वस्तुत: आवेगों में जितनी अधिक तीव्रता होगी, व्यक्तित्व में उतनी ही अस्थिरता होगी और व्यक्तित्व में जितनी अधिक अस्थिरता होगी उतनी ही चारित्रिक दृढ़ता में कमी होगी। आवेगात्मक अस्थिरता ही अनैतिकता की जननी है। इस प्रकार आवेगात्मकता, चरित्र-बल और व्यक्तित्व तीनों ही एक-दूसरे से जुड़े हैं। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति के मूल्यांकन के सन्दर्भ में न केवल आवेगों की तीव्रता पर विचार करना चाहिए, वरन् उनकी प्रशस्तता और अप्रशस्तता पर भी विचार करना आवश्यक है। प्राचीन काल से ही व्यक्ति के आवेगों तथा मनोभावों के शुभत्व एवं अशुभत्व का सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व से जोड़ा जाता रहा है। व्यक्तित्व के वर्गीकरण या श्रेणी-विभाजन के शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक अनेक आधारों में एक आधार व्यक्ति की प्रशस्त और अप्रशस्त मनोवृत्तियाँ भी रही हैं। जिस व्यक्ति में जिस प्रकार की मनोवृत्तियाँ होती हैं, उसी आधार पर उसके व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया जाता है। मनोवृत्तियों की शुभाशुभता एवं तीव्रता और मन्दता के आधार पर व्यक्तित्व के वर्गीकरण की परम्परा बहुत पुरानी है। जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा के ग्रन्थों में ऐसा वर्गीकरण या श्रेणी-विभाजन उपलब्ध है। जैन परम्परा में इस वर्गीकरण का आधार उसका लेश्या-सिद्धान्त है। यद्यपि जैन परम्परा में नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के आधार पर व्यक्तित्व के वर्गीकरण के अन्य सिद्धान्त यथा— बहिरात्मा-अन्तरात्मा का सिद्धान्त एवं गुणस्थान के सिद्धान्त भी प्रचलित हैं, किन्तु इन सबमें लेश्या-सिद्धान्त ही सबसे प्रचीन है, क्योंकि त्रिविध आत्मा की अवधारणा और गुणस्थान सिद्धान्त दोनों ही ईसा की पाँचवीं शती के पूर्व उपलब्ध नहीं होते हैं। जबकि लेश्या-सिद्धान्त भगवती और उत्तराध्ययन जैसे ईस्वी पूर्व के आगमों में भी उपलब्ध हैं। अन्य श्रमण परम्पराओं में लेश्या-सिद्धान्त का स्थान अभिजाति की कल्पना ने लिया है। गीता में इसे दैवी एवं आसुरी सम्पदा के रूप में वर्णित किया गया है।

लेश्या-सिद्धान्त और नैतिक व्यक्तित्व

जैन विचारकों के अनुसार लेश्या की परिभाषा यह है कि जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है या जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होती है अर्थात् बन्धन में आती है, वह लेश्या है।[१] उत्तराध्ययन की बृहद्-वृत्ति में लेश्या का अर्थ आण्विक आभा, कान्ति, प्रभा या छाया किया गया है।[२] यापनीय आचार्य शिवार्य ने भगवती आराधना में छाया पुद्गल से प्रभावित जीव के परिणामों (मनोभावों) को लेश्या माना है।[३] इसी आधार पर देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने लेश्या को एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण माना है, जो मनोवृत्तियों को निर्धारित करता है।[४] डॉ० शान्ता जैन ने भी अपने शोध-निबन्ध में भगवतीसूत्र (१/९) की टीका के आधार पर लेश्या को औदारिक आदि शरीरों का वर्ण माना है। वे लिखती हैं कि लेश्या एक पौद्गलिक परिणाम है।[५]

जैनागमों में लेश्या दो प्रकार की मानी गयी है—१. द्रव्य-लेश्या और २. भाव-लेश्या। अत: हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें मात्र द्रव्य ही पौद्गलिक है, भाव-लेश्या नहीं। भाव लेश्या तो द्रव्य लेश्या के आधार पर बनने वाली चित्तवृत्तियाँ हैं। इन दोनों में कार्यकारण भाव या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो हैं किन्तु दोनों अलग-अलग हैं।

१. **द्रव्य-लेश्या**—द्रव्य-लेश्या सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों से निर्मित वह संरचना है, जो हमारे मनोभावों एवं तज्जनित कर्मों का सापेक्ष रूप में कारण अथवा कार्य बनती है। जिस प्रकार पित्त द्रव्य की विशेषता से स्वभाव में क्रुद्धता आती है और क्रोध के कारण पित्त का निर्माण बहुल रूप से होता है, उसी प्रकार इन सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों से मनोभाव बनते हैं और मनोभाव के होने पर इन सूक्ष्म संरचनाओं का निर्माण होता है। लेश्या-द्रव्य या द्रव्य-लेश्या-स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य राजेन्द्रसूरिजी[६] एवं पं० सुखलालजी[७] ने निम्न तीन मतों को उद्धृत किया है —

(१) लेश्या—द्रव्य कर्मवर्गणा से बने हुए हैं। यह मत उत्तराध्ययन की टीका में है।

(२) लेश्या—द्रव्य बध्यमान कर्मप्रवाह रूप में है। यह मत भी उत्तराध्ययन की टीका में वादिवैताल शान्तिसूरि का है।

(३) लेश्या—योग परिणाम है अर्थात् शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं का परिणाम है। यह मत आचार्य हरिभद्र का है।

मेरी दृष्टि से द्रव्य-लेश्या को हम व्यक्ति का आभा मण्डल कह सकते है। डॉ० शान्ता जैन ने अपने शोध-प्रबन्ध में और उनसे पूर्व युवाचार्य महाप्रज्ञ ने अपने ग्रन्थ आभामण्डल में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

२. **भाव-लेश्या**—भाव-लेश्या आत्मा का अध्यवसाय या अन्त:करण की वृत्ति है। पं० सुखलाल जी के शब्दों में भाव-लेश्या मनोभाव विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है।

संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक भेद होने से लेश्या (मनोभाव) वस्तु: अनेक प्रकार की है तथापि संक्षेप में छ: भेद करके (जैन) शास्त्र में उसका स्वरूप वर्णन किया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र[८] में लेश्याओं के स्वरूप का निर्वचन वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनोभाव, कर्म आदि अनेक पक्षों के आधार पर हुआ है, लेकिन हम अपने विवेचन को लेश्याओं के भावात्मक पक्ष तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सीमित रखना उचित समझेंगे। मनोदशाओं में संक्लेश की न्यूनाधिकता अथवा मनोभावों की अशुभत्व से शुभत्व की ओर बढ़ने की स्थितियों के आधार पर ही उनके विभाग किये गये हैं। अप्रशस्त और प्रशस्त इन द्विविध मनोभावों के उनकी तरतमता के आधार पर छ: भेद वर्णित हैं—

अप्रशस्त मनोभाव	प्रशस्त मनोभाव
१. कृष्ण-लेश्या–तीव्रतम अप्रशस्त मनोभाव	४. तेजो-लेश्या - मंद प्रशस्त मनोभाव
२. नील-लेश्या–तीव्र अप्रशस्त मनोभाव	५. पद्म-लेश्या- तीव्र प्रशस्त मनोभाव
३. कापोत-लेश्या–मंद अप्रशस्त मनोभाव	६. शुक्ल-लेश्या-तीव्रतम प्रशस्त मनोभाव

लेश्याएं एवं व्यक्तित्व का श्रेणी-विभाजन

लेश्याएं मनोभावों का वर्गीकरण मात्र नहीं हैं, वरन् चरित्र के आधार पर किये गये व्यक्तित्व के प्रकार भी हैं। मनोभाव अथवा संकल्प आन्तरिक तथ्य ही नहीं हैं, वरन् वे क्रियाओं के रूप में बाह्य अभिव्यक्ति भी चाहते हैं। वस्तुत: संकल्प ही कर्म में रूपान्तरित होते हैं। ब्रेडले का यह कथन उचित है कि कर्म संकल्प का रूपान्तरण है।[९] मनोभूमि या संकल्प व्यक्ति के आचरण का प्रेरक सूत्र है, लेकिन कर्मक्षेत्र में संकल्प और आचरण दो अलग-अलग तत्त्व नहीं रहते हैं। आचरण से संकल्पों की मनोभूमि का निर्माण होता है और संकल्पों की मनोभूमिका पर ही आचरण स्थित होता है। मनोभूमि और आचरण (चरित्र) का घनिष्ठ सम्बन्ध है । इतना ही नहीं, मनोवृत्ति स्वयं में भी एक आचरण है। मानसिक कर्म भी कर्म ही है। अत: जैन विचारकों ने जब लेश्या परिणाम की चर्चा की तो, वे मात्र मनोदशाओं की चर्चाओं तक ही सीमित नहीं रहे, वरन् उन्होंने उस मनोदशा से प्रत्युत्पन्न जीवन के कर्म क्षेत्र में घटित होने वाले बाह्य व्यवहारों की चर्चा भी की और इस प्रकार जैन लेश्या-सिद्धान्त व्यक्तित्व के वर्गीकरण का व्यवहारिक सिद्धान्त बन गया। जैन विचारकों ने इस सिद्धान्त के आधार पर यह बताया कि मनोवृत्ति एवं आचरण की दृष्टि से व्यक्ति का व्यक्तित्व या तो शुभ (नैतिक) होगा या अशुभ (अनैतिक)। इन्हें धार्मिक और अधार्मिक अथवा शुक्ल-पक्षी और कृष्ण-पक्षी भी कहा गया है। वस्तुत: एक वर्ग वह है जो नैतिकता या शुभत्व की ओर उन्मुख है। दूसरा वर्ग वह है जो अनैतिकता या अशुभत्व की ओर उन्मुख है। इस प्रकार गुणात्मक अन्तर के आधार पर व्यक्तित्व के ये दो प्रकार बनते हैं। लेकिन जैन विचारक मात्र गुणात्मक वर्गीकरण से सन्तुष्ट नहीं हुए और उन्होंने उन दो गुणात्मक प्रकारों को तीन-तीन प्रकार के मात्रात्मक अन्तरों (जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट) के आधार पर छ: भागों में विभाजित किया। जैन लेश्या-सिद्धान्त का षट्विध वर्गीकरण इसी आधार पर हुआ है। जैन विचारकों ने इन मात्रात्मक अन्तरों के तीन, नौ, इक्यासी और दो सौ तैंतालिस उपभेद भी गिनायें है, लेकिन प्राचीन षट्विध वर्गीकरण ही अधिक प्रचलित रहा है। निम्न पंक्तियों में हम इन छ: प्रकार के व्यक्तियों की चर्चा करेंगे—

१. कृष्ण-लेश्या (अशुभ भाव) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण-यह व्यक्तित्व का सबसे निकृष्ट रूप है। इस अवस्था में प्राणी के विचार अत्यन्त निम्न कोटि के एवं क्रूर होते हैं। वासनात्मक पक्ष जीवन के सम्पूर्ण कर्मक्षेत्र पर हावी रहता है। प्राणी अपनी शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाओं पर नियन्त्रण करने में अक्षम रहता है। वह अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण न रख पाने के कारण बिना किसी प्रकार के शुभाशुभ विचार के सदैव इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति में निमग्न रहता है। इस प्रकार भोग-विलास में आसक्त हो, वह उनकी पूर्ति के लिए हिंसा, चोरी, व्यभिचार और संग्रह में लगा रहता है। स्वभाव से वह निर्दयी व नृशंस होता है और हिंसक कार्य करने में उसे तनिक भी अरूचि नहीं होती तथा अपने छोटे से स्वार्थ के निमित्त दूसरे का बड़ा से बड़ा अहित करने में वह संकोच नहीं करता।[१०] मात्र यही नहीं वह दूसरों को निरर्थक पीड़ा या त्रास देने में आनन्द मानता है। कृष्ण लेश्या से युक्त प्राणी वासनाओं के अन्धप्रवाह से ही शासित होता है, इसलिए भावावेश में उसमें स्वयं के हिताहित का विचार करने की क्षमता भी नहीं होती। वह दूसरे का अहित मात्र इसलिए नहीं करता कि उससे उसका स्वयं का कोई हित होगा, वरन् वह तो अपने क्रूर स्वभाव के वशीभूत हो, अपने हित के अभाव में भी दूसरे का अहित करता रहता है।

२. नील-लेश्या (अशुभतर मनोभाव) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण—व्यक्तित्व का यह प्रकार पहले की अपेक्षा कुछ ठीक होता है, लेकिन होता अशुभ ही है। इस अवस्था में भी प्राणी का व्यवहार वासनात्मक पक्ष से शासित होता है। लेकिन वह अपनी वासनाओं की पूर्ति में अपनी बुद्धि का प्रयोग करने लगता है। अत: इसका व्यवहार प्रकट रूप में तो कुछ परिमार्जित सा रहता है, लेकिन उसके पीछे कुटिलता ही काम करती है। यह विरोधी का अहित अप्रत्यक्ष रूप से करता है। ऐसा प्राणी ईर्ष्यालु, सहिष्णु, असंयमी, अज्ञानी, कपटी, निर्लज्ज,लम्पट, द्वेष-बुद्धि से युक्त, रसलोलुप एवं प्रमादी होता है।[११] वह अपनी सुख-सुविधा का सदैव ध्यान रखता है और दूसरे का अहित अपने हित के निमित्त करता है, यहाँ तक कि वह अपने अल्प हित के लिए दूसरे का बड़ा अहित भी कर देता है। जिन प्राणियों से उसका स्वार्थ सधता है उन प्राणियों का अज-पोषण-न्याय के अनुसार वह कुछ ध्यान अवश्य रखता है, लेकिन मनोवृत्ति दूषित ही होती है। जैसे बकरा पालने वाला बकरे को इसलिए नहीं खिलाता कि उस बकरे का हित होगा वरन् इसलिए खिलाता है कि उसे मारने पर अधिक मांस मिलेगा। ऐसा व्यक्ति दूसरे का बाह्य रूप में जो भी हित करता दिखाई देता है, उसके पीछे उसका गहन स्वार्थ रहता है।

३. कापोत-लेश्या (अशुभ मनोवृत्ति) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण—यह मनोवृत्ति भी दूषित है। इस मनोवृत्ति में प्राणी का व्यवहार मन, वचन, कर्म से एकरूप नहीं होता। उसकी करनी-कथनी भिन्न होती है। मनोभावों में सरलता नहीं होती, कपट और अहंकार होता है। वह अपने दोषों को सदैव छिपाने की कोशिश करता है। उसका दृष्टिकोण अयथार्थ एवं व्यवहार अनार्य होता है। वह वचन से दूसरे की गुप्त बातों को प्रकट करने वाला अथवा दूसरे के रहस्यों को प्रकट करके उससे अपने हित साधने वाला, दूसरे के धन का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपहरण करने वाला एवं मात्सर्य भावों से युक्त होता है। फिर भी ऐसा व्यक्ति दूसरे का अहित तभी करता है, जब उससे उसकी स्वार्थ सिद्धि नहीं होती है।[१२]

४. तेजो-लेश्या (शुभ मनोवृत्ति) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण— यह मनोदशा पवित्र होती है। इस मनोभूमि में प्राणी पापभीरु होता है। यद्यपि वह अनैतिक आचरण की ओर प्रवृत्त नहीं होता, तथापि वह सुखापेक्षी होता है। लेकिन किसी अनैतिक आचरण द्वारा उन सुखों की प्राप्ति या अपना स्वार्थ साधन नहीं करता। धार्मिक और नैतिक आचरण में उसकी पूर्ण आस्था होती है। अत: उन कृत्यों के सम्पादन में आनन्द प्राप्त करता है, जो धार्मिक या नैतिक दृष्टि से शुभ है। इस मनोभूमि में दूसरे के कल्याण की भावना भी होती है। संक्षेप में, इस मनोभूमि में स्थित प्राणी पवित्र आचरण वाला, नम्र, निष्कपट, आकांक्षारहित, विनीत, संयमी एवं योगी होता है।[१३] वह प्रिय एवं दृढ़धर्मी तथा परहितैषी होता है। इस मनोभूमि में दूसरे का अहित तो सम्भव होता है, लेकिन केवल उसी स्थिति में जबकि दूसरा उसके हितों का हनन करने पर उतारू हो जाये।

जैन आगमों में तेजोलेश्या की शक्ति को प्राप्त करने के लिये विशिष्ट साधना-विधि का उल्लेख भी प्राप्त होता है। गोशालक ने महावीर से तेजोलेश्या की जो साधना सीखी थी उसका दुरुपयोग उसने स्वयं भगवान् महावीर और उनके शिष्यों के प्रति किया। इस प्रकार तेजोलेश्या का उपयोग शुभत्व और अशुभत्व दोनों ही दिशा में सम्भव हो सकता है।

५. पद्म-लेश्या (शुभतर मनोवृत्ति) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण— इस मनोभूमि में पवित्रता की मात्रा पिछली भूमि की अपेक्षा अधिक होती है। इस मनोभूमि में क्रोध, मान, माया एवं लोभरूप अशुभ मनोवृत्तियाँ अतीव अल्प अर्थात् समाप्तप्राय हो जाती हैं। प्राणी संयमी तथा योगी होता है तथा योग-साधना के फलस्वरूप आत्मजयी एवं प्रफुल्लित होता है। वह अल्पभाषी, उपशान्त एव जितेन्द्रिय होता है।[१४]

६. शुक्ल-लेश्या (परमशुभ मनोवृत्ति) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण—यह मनोभूमि शुभ मनोवृत्ति की सर्वोच्च भूमिका है। पिछली मनोवृत्ति के सभी शुभ गुण इस अवस्था में वर्तमान रहते हैं, लेकिन उनकी विशुद्धि की मात्रा अधिक होती है। प्राणी उपशान्त, जितेन्द्रिय एवं प्रसन्नचित्त होता है। उसके जीवन का व्यवहार इतना मृदु होता है कि वह अपने हित के लिए दूसरे को तनिक भी कष्ट नहीं देना चाहता है। मन-वचन-कर्म से एकरूप होता है तथा उनपर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है। उसे मात्र अपने आदर्श का बोध रहता है। बिना किसी अपेक्षा के वह मात्र स्व-कर्तव्य के परिपालन के प्रति जागरूक रहता है। सदैव स्व-धर्म एवं स्व-स्वरूप में निमग्न रहता है[१५]।

लेश्या-सिद्धान्त और अन्य विचारणाएँ

भारत में व्यक्ति के मनोवृत्तियों गुणों एवं कर्मों के आधार पर वर्गीकरण करने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यह वर्गीकरण सामाजिक एवं साधनात्मक दोनों दृष्टिकोणों से किया जाता रहा है। सामाजिक दृष्टि से इसने चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त का रूप ग्रहण किया था, जिसपर जन्मना और कर्मणा दृष्टिकोणों को लेकर श्रमण और वैदिक परम्परा में काफी विवाद भी रहा है। साधनात्मक दृष्टिकोण से गुण-कर्म के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण करने का प्रयास न केवल जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा ने किया है, वरन् अन्य लुप्त श्रमण परम्पराओं में भी ऐसे वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं। दीघनिकाय में आजीवक सम्प्रदाय के आचार्य मंखलिपुत्र गोशालक एवं अंगुत्तरनिकाय में पूर्णकश्यप के नाम के साथ ही वर्गीकरण का निर्देश हुआ है। ज्ञातव्य है कि दीघनिकाय के सामंजफलसुत्त में गोशालक सम्बन्धी विवरण में मात्र "छस्वेवाभि-जातीसु" इतना उल्लेख है, जबकि अंगुत्तरनिकाय में पूर्णकश्यप के द्वारा प्रस्तुत विवरण में इन छहों अभिजातियों में कौन किस वर्ग में आता है, इसका भी उल्लेख है। किन्तु इसमें आजीवक, श्रमणों और आचार्यों को सर्वोच्च वर्गों में रखना यही सूचित करता है कि यह सिद्धान्त मूलत: आजीवकों अर्थात् मंखलि गोशालक की परम्परा का रहा है। अंगुत्तरनिकाय में या तो भ्रान्तिवश अथवा पूर्णकश्यप द्वारा भी मान्य होने के कारण इसे उनके नामों से कहा गया है। इसकी मान्यता के अनुसार कृष्ण, नील, लोहित, हरिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल ये छ: अभिजातियाँ है। उक्त वर्गीकरण में कृष्ण अभिजाति में निर्गन्थ और आजीवक श्रमणों के अतिरिक्त अन्य श्रमणों को, लोहित अभिजाति में निर्ग्रन्थ श्रमणों को, हरिद्र अभिजाति में आजीवक गृहस्थों को, शुक्ल अभिजाति आजीवक के प्रणेता आचार्य-वर्ग को रखा गया है। ज्ञातव्य है कि चतुर्थ वर्ग के अर्थ में पूज्य आचार्य देवेन्द्रमुनिजी ने अपने 'पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ' में एवं डॉ० शान्ता जैन ने अपने शोध-प्रबन्ध में जो श्वेतवस्त्रधारी या निर्वस्त्र का अर्थ लिखा है वह उचित नहीं है उसमें मूलशब्द है—"ओदात्तवसनी अचेलसावका"। इसका अर्थ है उदात्त वस्त्र वाले अचेलकों (आजीवकों) के श्रावक। इसमें अचेलसावका का अर्थ अचेलकों के श्रावक ऐसा है। ओदात्तवसना यह श्रावकों का विशेषण है।

उपर्युक्त वर्गीकरण का जैन विचारणा के लेश्या-सिद्धान्त से बहुत कुछ शब्द साम्य है, लेकिन जैन दृष्टि से यह वर्गीकरण इस अर्थ में भिन्न है कि एक तो यह केवल मानव जाति तक सीमित है, जबकि जैन वर्गीकरण इसमें सम्पूर्ण प्राणी वर्ग का समावेश करता है। दूसरे, जैन दृष्टिकोण व्यक्तिपूरक है, जो साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति या व्यक्ति समूह अपनी मनोवृत्तियों एवं कर्मों के आधार पर किसी भी वर्ग या अभिजाति में सम्मिलित हो सकता है। यहाँ यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि जहाँ गोशालक द्वारा दूसरे श्रमणों को नील अभिजाति में रखा गया, वहीं निर्गन्थों को लोहित अभिजाति में रखना उनके प्रति कुछ समादर भाव का द्योतक अवश्य है। सम्भव है कि महावीर एवं गोशालक का पूर्व सम्बन्ध ही इसका कारण रहा हो। जहाँ तक भगवान् बुद्ध की तत्सम्बन्धी मान्यता का प्रश्न है, वे पूर्णकश्यप अथवा गोशालक की मान्यता से अपने को सहमत नहीं कर पाते हैं। वे व्यक्ति के नैतिक स्तर के आधार पर वर्गीकरण तो प्रस्तुत करते हैं, लेकिन वे अपने वर्गीकरण को जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचारणा के समान ही सार्वभौम एवं वस्तुनिष्ठ ही रखना चाहते हैं। वे यह भी नहीं बताते कि अमुक वर्ग या व्यक्ति इस वर्ग का है, वरन् यही कहते हैं कि जिसकी मनोभूमिका एवं आचारण जिस वर्ग के अनुसार होगा, वह उस वर्ग में आ जायेगा। पूर्णकश्यप के दृष्टिकोण की समालोचना करते हुए भगवान् बुद्ध आनन्द से कहते हैं कि 'मैं अभिजातियों को तो मानता हूँ लेकिन मेरा मन्तव्य दूसरों से पृथक् है'।[१६] मनोदशाओं के आधार पर आचरणपरक वर्गीकरण बौद्ध विचारणा का प्रमुख मन्तव्य था।

बौद्ध विचारणा में प्रथमत: प्रशस्त और अप्रशस्त मनोभाव तथा कर्म के आधार पर मानव जाति को कृष्ण और शुक्ल वर्ग में रखा गया। जो क्रूर कर्मी हैं वे कृष्ण अभिजाति के हैं और जो शुभ कर्मी हैं वे शुक्ल अभिजाति के हैं। पुन: कृष्ण प्रकार वाले और शुक्ल प्रकार वाले मनुष्यों को गुण-कर्म के आधार पर तीन-तीन भागों में बाँटा गया है।[१७] जैनागम उत्तराध्ययन में भी लेश्याओं को प्रशस्त और अप्रशस्त इन दो भागों में बाँटकर प्रत्येक के तीन-तीन विभाग किये गये हैं। बौद्ध विचारणा ने शुभाशुभ कर्मों एवं मनोभावों के आधार पर छ: वर्ग तो मान लिये, लेकिन इसके अतिरिक्त उन्होंने एक वर्ग उन लोगों का भी माना जो शुभाशुभ से ऊपर उठ गये हैं और इसे अकृष्ण शुक्ल कहा, जैसे जैन दर्शन में अर्हत् को अलेशी कहा गया है। इस प्रकार बुद्ध ने निम्न छ: अभिजातियाँ प्रतिपादित की है—

१. कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक (नीच कुल में पैदा हुआ) हो और कृष्ण धर्म (पापकृत्य) करता है।

२. कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो और शुक्ल धर्म करता है।

३. कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो अकृष्ण-अशुक्ल निर्वाण को समुत्पन्न करता है।

४. कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक (उच्चकुल में समुत्पन्न हुआ) हो तथा शुक्ल धर्म (पुण्य) करता है।

५. कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो और कृष्णकर्म करता है।

६. कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो अशुक्ल-अकृष्ण निर्वाण को समुत्पन्न करता है।

इस वर्गीकरण में भगवान् बुद्ध ने जन्म और कर्म दोनों को ही अपना आधार बनाया है जबकि जैन परम्परा मनोभावों और कर्मों को ही महत्त्व देती है, जन्म को नहीं। फिर भी उसमें देव एवं नारक के सम्बन्ध में जो लेश्या की चर्चा है उससे ऐसा लगता है कि वे वर्ग विशेष में जन्म के साथ लेश्या विशेष की उपस्थिति मानते थे।

लेश्या-सिद्धान्त और गीता

गीता में भी प्राणियों के गुण-कर्म के अनुसार व्यक्तित्व के वर्गीकरण की धारणा मिलती है। गीता न केवल सामाजिक दृष्टि से प्राणियों को गुण-कर्म के अनुसार चार वर्गों में वर्गीकृत करती है, वरन् वह आचरण की दृष्टि से भी एक अलग वर्गीकरण प्रस्तुत करती है। गीता के १६वें अध्याय में प्राणियों की आसुरी एवं दैवी ऐसी दो प्रकार की प्रकृति बतलायी गई है और इसी आधार पर प्राणियों के दो विभाग किये गये हैं। गीता का क्रथन है कि प्राणियों या मनुष्यों की प्रकृति दो ही प्रकार की होती है— दैवी या आसुरी।[१८] उसमें भी दैवी गुण मोक्ष के हेतु हैं और आसुरी गुण बन्धन के हेतु हैं।[१९] गीता में हमें द्विविध वर्गीकरण ही मिलता है, जिन्हें हम दैवी और आसुरी प्रकृति कहें, चाहे कृष्ण और शुक्लपक्षी कहें या कृष्ण और शुक्ल अभिजाति कहें। षट् लेश्याओं की जैन विचारणा के विवेचन में भी दो ही मूल प्रकार हैं—प्रथम तीन कृष्ण, नील और कापोत-लेश्या को अविशुद्ध, अप्रशस्त और संक्लिष्ट कहा गया है और अन्तिम तीन तेजो, पद्म और शुक्ल-लेश्या को विशुद्ध प्रशस्त और असंक्लिष्ट कहा गया है।[२०] उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि कृष्ण, नील एवं कापोत अधर्म लेश्यायें हैं, इनके कारण जीवन दुर्गति में जाता है और तेजों, पद्म एवं शुक्ल धर्मलेश्यायें हैं, इनके कारण जीव संगति में जाता है।[२१] पं० सुखलाल जी लिखते हैं कि कृष्ण और शुक्ल के बीच की लेश्यायें, विचारगत अशुभता के विविध मिश्रण मात्र हैं।[२२] जैन दृष्टि के अनुसार धर्म लेश्यायें या प्रशस्त लेश्यायें मोक्ष की हेतु तो होती है एवं जीवनमुक्त अवस्था तक विद्यामान भी रहती हैं, लेकिन विदेह मुक्ति उसी अवस्था में होती है जब प्राणी इनसे भी ऊपर उठ जाता है। इसलिए यहाँ यह कहा गया है कि धर्म लेश्यायें सुगति का कारण हैं, निर्वाण का नहीं । निर्वाण का कारण तो लेश्याओं से अतीत होना है।

जैन विचारणा विवेचना के क्षेत्र में विश्लेषणात्मक अधिक रही है। अतएव वर्गीकरण करने की स्थिति में भी उसने काफी गहराई तक जाने की कोशिश की और इसी आधार पर यह षट्विध विवेचन किया। लेकिन तथ्य यह है कि गुणात्मक अन्तर के आधार पर तो दो ही भेद होते हैं, शेष वर्गीकरण मात्रात्मक ही हैं। इस प्रकार यदि मूल आधारों की दृष्टि रखें तो जैन और गीता की विचारणा को अतिनिकट ही पाते हैं। जहाँ तक जैन दर्शन की धर्म और अधर्म लेश्याओं में तथा गीता की दैवी और आसुरी सम्पदा में प्राणी की मन:स्थिति एवं आचरण का जो चित्रण किया गया है, उसमें बहुत कुछ शब्द एवं भाव साम्य है।

धर्म लेश्याओं में प्राणी की मन स्थिति एवं चारित्र (उत्तराध्ययन के आधार पर जैन दृष्टिकोण)[२३]	**दैवी सम्पदा से युक्त प्राणी की मनःस्थिति एवं चारित्र (गीता[२४] का दृष्टिकोण)**
१. प्रशान्त चित्त	शान्तचित्त एवं स्वच्छ अन्तःकरण वाला
२. ज्ञान, ध्यान और तप में रत	तत्त्वज्ञान के लिए ध्यान में निरन्तर दृढ़ स्थिति
३. इन्द्रियों को वश में रखने वाला	स्वाध्यायी, दानी एवं उत्तम कर्म करने वाला
४. स्वाध्यायी	स्वाध्यायी, दानी एवं उत्तम कर्म करने वाला
५. हितैषी	अहिंसायुक्त, दयाशील तथा अभय
६. क्रोध की न्यूनता	अक्रोधी, क्षमाशील
७. मान, माया और लोभ का त्यागी	त्यागी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. अल्पभाषी	अपिशुनी तथा सत्यशील
९. इन्द्रिय और मन पर अधिकार करने वाला	अलोलुप (इन्द्रिय विषयों में अनासक्त)
१०. तेजस्वी	तेजस्वी
११. दृढ़धर्मी	धैर्यवान
१२. नम्र एवं विनीत	कोमल
१३. चपलता रहित तथा शांत	चपलतारहित (अचपल)
१४. पापभीरु, शान्त	लोक और शास्त्रविरुद्ध आचरण में लज्जा

अप्रशस्त या अधर्म लेश्याओं में प्राणियों की मनःस्थिति एवं चारित्र (उत्तराध्ययन[25] के आधार पर जैन दृष्टिकोण)	**आसुरी सम्पदा से युक्त प्राणी की मनः-स्थिति एवं चारित्र(गीता का दृष्टिकोण)[26]**
१. अज्ञानी	कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान का अभाव
२. –	नष्टात्मा एवं चिन्ताग्रस्त
३. मन, वचन एवं कर्म से अगुप्त	मानसिक एवं कायिक शौच से रहित (अपवित्र)
४. दुराचारी	अशुद्ध आचार (दुराचारी)
५. कपटी	कपटी, मिथ्याभाषी
६. मिथ्यादृष्टि	आत्मा और जगत् के विषय में मिथ्या दृष्टिकोण
७. अविचारपूर्वक कर्म करने वाला	अल्पबुद्धि
८. नृशंस	क्रूरकर्मी
९. हिंसक	हिंसक, जगत् का नाश करने वाला
१०. रसलोलुप एवं विषयी	कामभोग परायण तथा क्रोधी
११. अविरत	तृष्णायुक्त
१२. चोर	चोर

महाभारत और लेश्या-सिद्धान्त

गीता महाभारत का अंग है और महाभारत में सनत्कुमार एवं वृत्रासुर के संवाद में प्राणियों के छः प्रकार के वर्णों का निर्देश हुआ है। वे वर्ण हैं— कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हारिद्र और शुक्ल। इन छः— वर्णों की सुखात्मक स्थिति का चित्रण करते हुए कहा गया है कि कृष्ण, धूम्र और नील वर्ण का सुख मध्यम होता है, रक्त वर्ण का सुख सह्य होता है, हारिद्र वर्ण सुखकर होता है और शुक्ल वर्ण सर्वाधिक सुखकर होता है।

ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में भी षट्-लेश्याओं की सुखदुःखात्मक स्थितियों की चर्चा उपलब्ध होती है। इसके अतिरिक्त महाभारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र आदि इन चार वर्णो के चार रंगों (वर्णो) का भी उल्लेख मिलता है। इसमें शूद्र को कृष्ण,वैश्य को नील, क्षत्रिय को रक्त, और ब्राह्मण को शुक्ल वर्ण कहा गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैनाचार्य जटासिंह नन्दी ने वरांगचरित (७वीं शती) में इस अवधारणा की स्पष्ट समीक्षा भी की थी। उन्होंने कहा था कि न तो सभी शूद्र काले होते हैं और न सभी ब्राह्मण शुक्ल वर्ण के होते हैं।

साथ ही महाभारत में वर्णों के आधार पर जीवों की उच्च एवं निम्न गतियों का भी उल्लेख हुआ है। सभी वर्णों की चर्चा करते हुए भी बताया गया है कि नारकीय जीवों का वर्ण कृष्ण होता है, जो नरक से निकलते हैं उनका वर्ण धूम्र होता है। मानव जाति का वर्ण नीला होता है। देवों का वर्ण रक्त (लाल) होता है। अनुग्रहशील विशिष्ट देवों का वर्ण हारिद्र और साधकों का वर्ण शुक्ल होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्णों (रंगों) के आधार पर प्राणियों का वर्गीकरण अनेक दृष्टियों से किया गया है।

योगसूत्र एवं लेश्या-सिद्धान्त

पतंजलि ने अपने योगसूत्र में चार जातियाँ प्रतिपादित की हैं— १. कृष्ण, २. कृष्ण-शुक्ल, ३. शुक्ल और ४. अशुक्ल-अकृष्ण। इन्हें क्रमशः अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध और और शुद्धतर कहा गया है।

उपरोक्त आधारों पर यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में कृष्ण और शुक्ल इन दो वर्णों की कल्पना की इन्हें मनोवृत्ति, आचरण,गति आदि से जोड़ा गया। जैन दर्शन में इन्हें कृष्णपक्षी और शुक्लपक्षी कहा गया तथा कृष्णपक्षी को मिथ्यादृष्टि और शुक्लपक्षी को सम्यक्-दृष्टि माना गया। बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद में कृष्ण धर्म और शुक्ल धर्म का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि पण्डित कृष्ण धर्म का परित्याग कर शुक्ल धर्म का अनुसरण करे। आगे चलकर अकृष्ण-अशुक्ल रूप निर्वाण कल्पना के साथ तीन वर्ग बनाये गये। फिर जन्म के आधार पर कृष्ण-अभिजाति और शुक्ल-अभिजाति की कल्पना का कर्म की दृष्टि से उक्त तीन अवस्थाओं से संयोग करके बौद्ध धर्म में भी छः वर्ग बने, जिनकी चर्चा हम पूर्व मे कर चुके हैं। इस प्रकार कृष्ण और शुक्ल दोनों के संयोग से कृष्ण-शुक्ल नामक तीसरे और दोनों का अतिक्रमण करने से चौथे वर्ग की कल्पना की गयी और इस प्रकार एक चतुर्विध वर्गीकरण भी हुआ। पतंजलि और बौद्ध दर्शन में यह चतुर्विध वर्गीकरण भी मिलता है। इस प्रकार कृष्ण और शुक्ल वर्ण के मध्यवर्ती अन्य वर्णों की कल्पना के साथ आजीवक आदि कुछ प्राचीन श्रमण धाराओं में षट् अभिजातियों की और जैनधारा में लेश्याओं की अवधारणा सामने आयी है।

लेश्या-सिद्धान्त एवं पाश्चात्य नीतिवेत्ता रॉस के नैतिक व्यक्तित्व का वर्गीकरण

पाश्चत्य नीतिशास्त्र में डब्ल्यू० रॉस भी एक ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं जिसकी तुलना जैन लेश्या-सिद्धान्त से की जा सकती है। रॉस कहते हैं कि नैतिक शुभ एक ऐसा शुभ है जो हमारे कार्यो, इच्छाओं, संवेगों तथा चरित्र से सम्बन्धित है। नैतिक शुभता का मूल्य केवल इसी बात में नहीं है कि उसका प्रेरक क्या है, वरन् उसकी अनैतिकता के प्रति अवरोधक शक्ति से भी है। उनके अनुसार नैतिक शुभत्व के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ में मनोभावों का, उनके निम्नतम रूप से उच्चतम रूप तक निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है-

१. दूसरों को जितना अधिक दु:ख दिया जा सकता है, देने की इच्छा।

२. दूसरों को किसी विशेष प्रकार का अस्थायी दु:ख उत्पन्न करने की इच्छा।

३. नैतिक दृष्टि से अनुचित सुख प्राप्त करने की इच्छा।

४. ऐसा सुख प्राप्त करने की इच्छा जो, नैतिक दृष्टि से उचित न हो, लेकिन अनुचित भी न हो।

५. नैतिक दृष्टि से उचित सुख प्राप्त करने की इच्छा।

६. दूसरों को सुख देने की इच्छा।

७. कोई शुभ कार्य करने की इच्छा।

८. अपने नैतिक कर्तव्य के परिपालन की इच्छा।[२७]

रॉस अपने इस वर्गीकरण में जैन लेश्या-सिद्धान्त के काफी निकट आ जाते हैं। जैन विचारक और रॉस दोनों स्वीकार करते हैं कि नैतिक शुभ का समन्वय हमारे कार्यों, इच्छाओं, संवेगों तथा चरित्र से है। यही नहीं दोनों व्यक्ति के नैतिक विकास का मूल्यांकन इस बात से करते हैं कि व्यक्ति के मनोभावों एवं आचरण में कितना परिवर्तन हुआ है और वह विकास की किस भूमिका में स्थित है। रॉस के वर्गीकरण के पहले स्तर की तुलना कृष्ण-लेश्या की मनोभूमिका से की जा सकती है, दोनों ही दृष्टिकोणों के अनुसार इस स्तर में प्राणी की मनोवृत्ति दूसरों को यथासम्भव दु:ख देने की होती है। जैन विचारणा का जामुन के वृक्ष वाला उदाहरण भी यही बताता है कि कृष्ण-लेश्या वाला व्यक्ति उस जामुन वृक्ष के मूल को प्राप्त करने की इच्छा रखता है अर्थात् जितना विनाश किया जा सकता है या जितना सु:ख दिया जा सकता है, उसे देने की इच्छा रखता है। दूसरे स्तर की तुलना नील लेश्या से की जा सकती है। रॉस के अनुसार व्यक्ति इस स्तर में दूसरों को अस्थायी दु:ख देने की इच्छा रखता है, जैनदृष्टि के अनुसार भी इस अवस्था में प्राणी दूसरों को दु:ख उसी स्थिति में देना चाहता है, जब उनके दु:ख देने से उसका स्वार्थ सधता है। इस प्रकार इस स्तर पर प्राणी दूसरों को तभी दु:ख देता है जब उसका स्वार्थ उसे टकराता हो। यद्यपि जैनदृष्टि यह स्वीकार करती है कि इस स्तर में व्यक्ति अपने छोटे से हित के लिए दूसरों का बड़ा अहित करने में नहीं सकुचाता। जैन विचारणा के उपर्युक्त उदाहरण में बताया गया है कि नील-लेश्या वाला व्यक्ति फल के लिए समूल वृक्ष का नाश तो नहीं करता, लेकिन उसकी शाखा को काट देने की मनोवृत्ति रखता है अर्थात् उस वृक्ष का पूर्ण नाश नहीं, वरन् उसके एक भाग का नाश करता है। दूसरे शब्दों में आंशिक दु:ख देता है। रॉस के तीसरे स्तर की तुलना जैन दृष्टि की कापोतलेश्या से की जा सकती है। जैन दृष्टि यह स्वीकार करती है कि नील और कापोत-लेश्या के इन स्तरों में व्यक्ति सुखापेक्षी होता है, लेकिन जिन सुखों की वह गवेषणा करता है, वे वासनात्मक सुख ही होते हैं। दूसरे, जैन विचारणा यह भी स्वीकार करती है कि कापोत-लेश्या के स्तर तक व्यक्ति अपने स्वार्थ या सुखों की प्राप्ति के लिए किसी नैतिक शुभाशुभता का विचार नहीं करता है। वह जो कुछ भी करता है वह मात्र स्वार्थ-प्रेरित होता है। रॉस के तीसरे स्तर में व्यक्ति नैतिक दृष्टि से अनुचित सुख प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार यहाँ पर भी रॉस एवं जैन दृष्टिकोण विचार-साम्य रखते हैं।

रॉस के चौथे, पाँचवें और छठें स्तरों की संयुक्त रूप से तुलना जैन दृष्टि की तेजोलेश्या के स्तर के साथ हो सकती है। रास चौथे स्तर में प्राणी की प्रकृति इस प्रकार बताते हैं कि व्यक्ति सुख तो पाना चाहता है, लेकिन वह उन्हीं सुखों की प्राप्ति का प्रयास करता है जो नैतिक दृष्टि से अनुचित भी नहीं हो, पाँचवें स्तर पर प्राणी नैतिक दृष्टि से उचित सुखों को प्राप्त करना चाहता है तथा छठें स्तर पर वह दूसरों को सुख देने का प्रयास भी करता है। जैन विचारणा के अनुसार भी तेजोलेश्या के स्तर पर प्राणी नैतिक दृष्टि से उचित से उचित सुखों को ही पाने की इच्छा रखता है, साथ-साथ वह दूसरे की सुख-सुविधाओं का भी ध्यान रखता है।

रॉस के सातवें स्तर की तुलना जैनदृष्टि में पद्म-लेश्या से की जा सकती है, क्योंकि दोनों के अनुसार इस स्तर पर व्यक्ति दूसरों के हित का ध्यान रखता है तथा दूसरों के हित के लिए उन सब कार्यों को करने में तत्पर रहता है, जो नैतिक दृष्टि से शुभ है।

रॉस के अनुसार मनोभावों के आठवें सर्वोच्च स्तर पर व्यक्ति को मात्र अपने कर्तव्य का बोध रहता है। वह हिताहित की भूमिकाओं से ऊपर उठ जाता है। इसी प्रकार जैन विचारणा के अनुसार भी नैतिकता की इस उच्चतम भूमिका में जिसे शुक्ल-लेश्या कहा जाता है, व्यक्ति को समत्व भाव की उपलब्धि हो जाती है, अत: वह स्व और पर भेद से ऊपर उठकर मात्र आत्मस्वरूप में स्थित रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल जैन, बौद्ध और बृहद् हिन्दू परम्परा वरन् पाश्चात्य विचारक भी इस विषय में एकमत हैं कि व्यक्ति के मनोभावों से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। व्यक्ति का आचरण एक ओर उसके मनोभावों का परिचायक है, तो दूसरी ओर उसके नैतिक व्यक्तित्व का निर्माता भी है। मनोभाव एवं तज्जनित आचरण जैसे-जैसे अशुभ से शुभ की ओर बढ़ता है, वैसे-वैसे व्यक्ति में भी परिपक्वता एवं विकास दृष्टिगत होता है। ऐसे शुद्ध, संतुलित, स्थिर एवं परिपक्व व्यक्तित्व का निर्माण जीवन का लक्ष्य है।

लेश्या-सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकासक्रम

जहाँ तक लेश्या की अवधारणा के ऐतिहासिक विकासक्रम का प्रश्न है, डॉ० ल्यूमेन और डॉ० हरमन जैकोबी की मान्यता यह है कि आजीवकों की षट्-अभिजातियों की कल्पना से ही जैनों में षट्-लेश्याओं की अवधारणा का विकास हुआ है। षट्-लेश्याओं के नाम आदि की षट्-अभिजातियों के नामों से बहुत कुछ साम्यता को देखकर उनका यह मान लेना अस्वाभाविक तो नहीं कहा जा सकता है, फिर भी यदि अभिजाति-सिद्धान्त और लेश्या-सिद्धान्त की मूल प्रकृति को देखें तो हमें दोनों में एक अन्तर प्रतीत होता है। अभिजाति का सिद्धान्त धार्मिक विश्वासों और साधनाओं के बाह्य आधार पर किया गया व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का वर्गीकरण है, जबकि लेश्या का सिद्धान्त मनोवृत्तियों के आधार पर होने वाले मनोदैहिक परिवर्तनों और व्यक्ति के व्यक्तित्व की चारित्रिक विशिष्टताओं का सूचक है। अत: नाम साम्यता होते हुए भी दोनों में दृष्टिगत भिन्नता है। दूसरे यह है कि पूर्णकश्यप, मंखली गोशालक आदि आजीवक आचार्य भी महावीर के समकालिक ही हैं, अत: किससे किसने लिया है यह कहना कठिन है। पुन: लेश्या शब्द जैनों का अपना पारिभाषिक शब्द है, किसी भी अन्य परम्परा में इस अर्थ में यह शब्द मिलता ही नहीं है। अत: इस अवधारणा के विकास का श्रेय तो जैन परम्परा को देना ही होगा। हो सकता है कि षट्-अभिजाति आदि उस युग में समानान्तर रूप से प्रचलित अन्य सिद्धान्तों से उन्होंने कृष्ण, शुक्ल, नील आदि नाम ग्रहण किये हों, किन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि षट्-अभिजातियों एवं षट्-लेश्याओं के नामों में भी पूरी समानता नही है। केवल कृष्ण, नील और शुक्ल ये तीन समान हैं, किन्तु लोहित, हारिद्र, पद्म-शुक्ल ये तीन नाम लेश्या-सिद्धान्त में नहीं है, उनके स्थान पर कापोत, तेजों एवं पद्म ये तीन नाम मिलते हैं। अत: लेश्या सिद्धान्त अभिजाति सिद्धान्त की पूर्णत: अनुकृति नहीं है। मनोभावों, चारित्रिक विशुद्धि, लोककल्याण की प्रवृत्ति आदि के आधार पर व्यक्तियों अथवा उनके व्यक्तित्व के वर्गीकरण की परम्परा सभी धर्म परम्पराओं में और सभी कालों में पाई जाती है। प्रत्येक धर्म परम्परा ने अपनी-अपनी दृष्टि से उस पर विचार किया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से लेश्या शब्द का प्रयोग अति प्राचीन है। इतना निश्चित है कि प्राचीन पालि त्रिपिटक के दीघनिकाय और अंगुत्तरनिकाय, जिनमें आभिजाति का सिद्धान्त पाया जाता है, की अपेक्षा आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध भाषा, शैली और विषयवस्तु तीनों ही दृष्टियों से प्राचीन है। विद्वान् उसे ई० पू० पाँचवी-चौथी शती का ग्रन्थ मानते हैं और उसमें अबहिलेस्से[२८] शब्द की उपस्थिति यही सूचित करती है कि लेश्या की अवधारणा महावीर के समकालीन है। पुन: उत्तराध्ययनसूत्र जो आचारांगसूत्र और सूत्रकृतांगसूत्र के अतिरिक्त अन्य सभी आगमों से प्राचीन माना जाता है, में लेश्याओं के सम्बन्ध में एक पूरा अध्ययन उपलब्ध होना यही सूचित करता है कि लेश्या की अवधारणा एक प्राचीन अवधारणा है। जैन दर्शन में आध्यात्मिक और चारित्रिक विशुद्धि की दृष्टि से परवर्ती काल में जो त्रिविध-आत्मा के सिद्धान्त और गुणस्थान के सिद्धान्त अस्तित्व में आये, उसकी अपेक्षा लेश्या का सिद्धान्त प्राचीन है, क्योंकि न केवल आचारांगसूत्र और उत्तराध्ययनसूत्र में अपितु सूत्रकृतांगसूत्र में 'सुविशुद्धलेसे' तथा औपपातिकसूत्र में 'अपडिलेस्स'' शब्दों का उल्लेख मिलता है। यहाँ सर्वत्र लेश्या शब्द मनोवृत्ति का ही परिचायक है और साधक की आत्म-विशुद्धि की स्थिति को सूचित करता है।

वस्तुत: लेश्या-सिद्धान्त में आत्मा के संक्लिष्ट अथवा विशुद्ध परिणामों की चर्चा रंगों के आधार पर की गयी है। यह रंगों के आधार पर व्यक्तियों और उनके मनोभावों के वर्गीकरण की परम्परा भारतीय साहित्य में अतिप्राचीन काल से रही है।

लेश्या की अवधारणा को प्राचीन कहने से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि उसमें कोई विकास नहीं हुआ। यदि हम जैन साहित्य में उपलब्ध लेश्या सम्बन्धी विवरणों को पढ़े ते स्पष्ट हो जाता है कि लेश्या-अवधारणा की अनेक दृष्टियों से विवेचना की गयी है। सर्वप्रथम उत्तराध्ययनसूत्र[२९] में नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु इन ग्यारह विचार बिन्दुओं (द्वारों) से उस पर विचार किया गया है। जबकि भगवतीसूत्र एवं प्रज्ञापनासूत्र[३०] में निम्न पन्द्रह विचार बिन्दुओं (द्वारों) से लेश्या की चर्चा की गयी है।

१. परिणाम, २. वर्ण, ३. रस, ४. गन्ध, ५. शुद्ध, ६. अप्रशस्त, ७. संक्लिष्ट, ८. उष्ण, ९. गति, १०. परिणाम, ११. प्रदेश, १२ वर्गणा, १३. अवगाहना, १४. स्थान एवं १५. अल्प-बहुत्व।

इसके पश्चात् दिगम्बर परम्परा में अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक[३१] में लेश्या की विवेचना के निम्न सोलह अनुयोगों की चर्चा की है— १. निर्देश, २. वर्ण, ३. परिणाम, ४. संक्रम, ५. कर्म, ६. लक्षण, ७. गति ८. स्वामित्व, ९. संख्या, १०. साधना, ११. क्षेत्र १२. स्पर्शन, १३. काल, १४. अन्तर, १५. भाव और १६. अल्प-बहुत्व।

अकलंक के पश्चात् गोम्मटसार के जीवकाण्ड[३२] में भी लेश्या की विवेचना के उपर्युक्त १६ ही अधिकारों का उल्लेख हुआ है। विस्तारभय से हम यहाँ इन सभी की चर्चा नहीं कर रहे हैं, किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से लेश्या-सिद्धान्त का प्राचीन होने पर भी इसमें क्रमिक विकास देखने को मिलता है। इसकी विस्तृत चर्चा डॉ० शान्ता जैन ने अपने शोध-प्रबन्ध में की है।

आधुनिक विज्ञान और लेश्या-सिद्धान्त

हम देखते हैं कि ई० पू० पाँचवी शताब्दी से ई० सन् दशवीं शताब्दी तक लेश्या सम्बन्धी चिन्तन में जो क्रमिक विकास हुआ था, वह ११वीं-१२वीं शताब्दी के बाद प्राय: स्थिर हो गया था। किन्तु आधुनिक युग में मनोविज्ञान, रंग-मनोविज्ञान, रंग-चिकित्सा आदि ज्ञान की नयी विधाओं के विकास के साथ जैन दर्शन की लेश्या सम्बन्धी विवेचनाओं को एक नया मोड़ प्राप्त हुआ। जैन दर्शन के लेश्या-सिद्धान्त को आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने का मुख्य श्रेय आचार्य तुलसी के विद्वान् शिष्य आचार्य महाप्रज्ञ जी को जाता है। उन्होंने आधुनिक व्यक्तित्व मनोविज्ञान के साथ-साथ आभामण्डल, रंग-मनोविज्ञान, रंग-चिकित्सा आदि अवधारणाओं को लेकर 'आभामण्डल' जैनयोग आदि अपने ग्रन्थ में इसका विस्तार से वर्णन किया है। प्राचीन और अर्वाचीन अवधारणाओं को लेकर डॉ०शान्ता जैन ने लेश्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन नामक एक शोध-प्रबन्ध लिखा है जिसमें लेश्या के विभिन्न पक्षों की चर्चा की गयी है। उन्होंने अपने इस शोध-ग्रन्थ में लेश्या का सैद्धान्तिक पक्ष, मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लेश्या, रंगों की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति, लेश्या और आभामण्डल, व्यक्तित्व और लेश्या, सम्भव है व्यक्तित्व बदलाव और लेश्या ध्यान, रंगध्यान और लेश्या आदि लेश्या के विभिन्न आयामों पर गम्भीरता से विचार किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुत: उनका यह ग्रन्थ लेश्या की प्राचीन अवधारणा की आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सन्दर्भ में एक नवीन व्याख्या है और भावी लेश्या सम्बन्धी अध्ययनों के लिए मार्ग प्रदर्शक है। इसके अध्ययन से यह प्रतिफलित होता है कि भारतीय चिन्तन की प्राचीन अवधारणाओं को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सन्दर्भ में किस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है और उनकी समकालिक प्रासंगिकता को कैसे सिद्ध किया जा सकता है। आशा है आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान के अध्येता इस दिशा में अपने प्रयत्नों को आगे बढ़ायेंगे और इस प्रकार के अध्ययन का जो द्वार आचार्य महाप्रज्ञ और डॉ० शान्ता जैन ने उद्घाटित किया है, उसे नया आयाम प्रदान करेंगे और साथ ही मानव के चारित्रिक बदलाव और आध्यात्मिक विशुद्धि की दिशा में सहयोगी बनेंगे। आज पर्यावरण की विशुद्धि पर ध्यान तो दिया जाने लगा है, किन्तु इस भौतिक पर्यावरण की अपेक्षा जो हमारा मनोदैहिक और मानसिक पर्यावरण है, जिसे जैन परम्परा में लेश्या कहा गया है, उसे भी शुद्ध रखने की आवश्यकता है। मैं समझता हूँ कि लेश्या की आवधारणा हमें यही इंगित करती है कि हम संक्लिष्ट मानसिक परिणामों से ऊपर उठकर अपने मानसिक पर्यावरण को किस प्रकार शुद्ध रख सकते हैं।

सन्दर्भ

१. देखें—अभिदानराजेन्द्रकोष, श्री विजय राजेन्द्रसूरि, रतलाम, खण्ड ३, पृ० ३९५
२. लेश्या—अतीव चक्षुरादीपिका स्निग्ध, दीप्त, रूपा छाया।
—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र ६५०
३. देखें—भगवती आराधना, भाग २, सम्पादक पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९३५, गाथा १९०९
४. श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, संपा० देवेन्द्रमुनि शास्त्री, प्रका०, तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर, १९७९, खण्ड पंचम, पृ० ४६१।
५. डॉ० शान्ता जैन, लेश्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, प्रथम अध्याय
६. अभिधान राजेन्द्रकोष, श्री विजयराजेन्द्रसूरि, रतलाम, खण्ड ६, पृ० ६७५।
७. (अ) दर्शन और चिन्तन, पं० सुखलालजी संघवी, प्रका०, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, १९५७, भाग २, पृ० २९७
(ब) अभिधानराजेन्द्रकोष, श्री विजयराजन्देसूरि, रतलाम खण्ड ६, पृ० ६७५।
८. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०- रतनलाल दोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना वीर सं० २४७८, ३४/३
९. एथिकल स्टडीज, ब्रेडले, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस,लंदन, १९२७ पृ० ६५।
१०. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०- रतनलाल दोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं० २४७८, ३४/२१-२२
११. वही, ३४/२१-२२
१२. वही, ३४/२५-२६
१३. वही, ३४/२७-२८
१४. वही, ३४/२९-३०
१५. वही, ३४/३१-३२
१६. अंगुत्तरनिकाय, अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, महाबोधि सभा, कलकत्ता, ६/३
१७. वही, ६/३
१८. गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१८, १६/६
१९. वही १६/५
२०. अभिधानराजेन्द्रकोष, श्री विजयराजेन्द्रसूरि, रतलाम, खण्ड ६, पृ० ६८७
२१. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०, रतनलाल दोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं० २४७८, ३४/५६-५७
२२. दर्शन और चिन्तन, पं० सुखलालजी संघवी, गुजरात विद्यासभा अहमदाबाद, १९५७, भाग -२, पृ० ११२
२३. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०- रतनलाल दोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना-वीर सं० २४७८, ३४/२७-३२
२४. गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि सं० २०१८, १६/१-३
२५. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०- रतनलाल दोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना-वीर सं० २४७८, ३४/२१-३६
२६. गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१८, १६/७-१८
२७. फाउण्डेशन ऑफ एथिक्स-उद्धृत,
२८. आयारो, संपा०-आचार्य तुलसी, प्रका०-जैन विश्वभारती, लाडनू, सं० २०३१, -६/१०६
२९. उत्तराध्ययनसूत्र- संपा०- रतनलाल दोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं० २४७८, ३४/२
३०. प्रज्ञापनासूत्र, संपा० आचार्य अमोलक ऋषि, प्रका०-लाला ज्वाला प्रसाद, हैदराबाद, १७/४११
३१. तत्त्वार्थराजवार्तिक, संपा०- डॉ महेन्द्रकुमार जैन, प्रका०- भारतीय ज्ञानपीठ काशी, पृ० २३८
३२. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), संपा०- डॉ एन० एन० उपाध्ये, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी १९७८, गाथा ४९१-४९२

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org